गठबंधन-प्रणाली का संस्थानीकरण

दलीय प्रणाली और गठजोड़

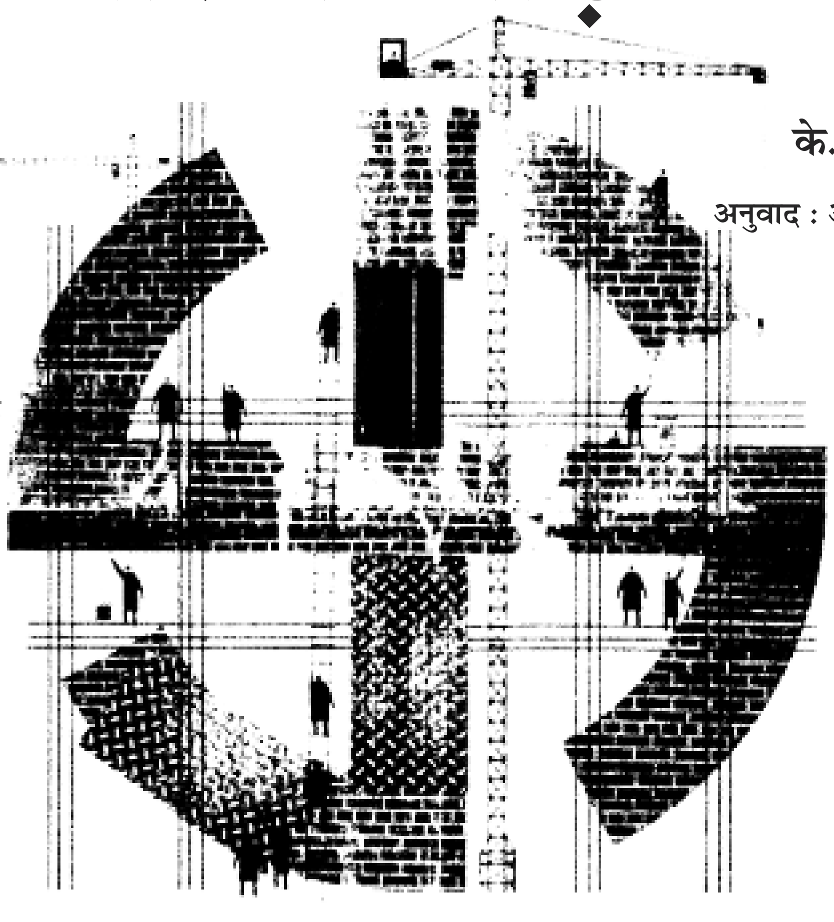

के.के. कैलाश

अनुवाद : अरुण कुमार त्रिपाठी

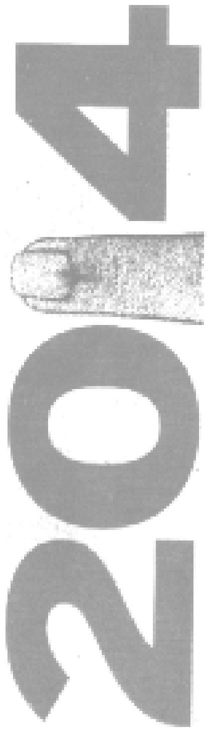

दुनिया-भर में किये गये तथ्यात्मक अध्ययन बताते हैं कि बहुदलीय प्रणाली के तहत होने वाली चुनावी होड़ से स्पष्ट विजेता नहीं पैदा होते। इसीलिए ऐसी प्रणाली के तहत बनने वाली सरकारें चुनावों के गर्भ से न उपज कर बहुत कुछ चुनाव-पूर्व, चुनाव के दौरान और चुनाव के बाद राजनीतिक दलों के बीच होने वाली अनिश्चित सौदेबाज़ी पर निर्भर करती हैं। यही वज़ह है कि हमें यह देख कर हैरत नहीं होती कि हमारी दलीय प्रणाली में किस तरह से परिवर्तन हुआ है, उसी तरह से राष्ट्रीय स्तर पर सरकार निर्माण, सरकार के टिकने और गिरने में गठबंधन-राजनीति की प्रभावी

07_kailash_Layout 1 5/1/2014 3:36 PM Page 80

भूमिका बन गयी है। भारत में बहुदलीय सरकारों का प्रयोग 1989 में शुरू हुआ और तभी से गठबंधन सरकारों या अल्पमत सरकारों का सिलसिला लगातार जारी है। अस्थिर और अल्पकालिक बंदोबस्तों से लेकर गठबंधन और साझा सरकारें अब काफ़ी लम्बा सफ़र तय कर चुकी हैं। न सिर्फ़ लगातार तीन साझा सरकारें अपना कार्यकाल पूरा कर चुकी हैं, बल्कि यह कहना भी ग़लत नहीं होगा कि गठबंधन-प्रणाली का संस्थानीकरण हो चुका है। शुरू में गठबंधन-राजनीति पर जिस तरह सवालिया निशान लगाए जाते थे, वह अब अतिरेक लगने लगा है। लेकिन सवाल उठाने वालों ने जिन कुछ समस्याओं की तरफ़ इशारा किया था वे वास्तविक साबित हुई हैं। इस लेख के दो सीमित उद्देश्य हैं। पहला है राष्ट्रीय स्तर पर साझा और गठबंधन सरकारों की राजनीति ख़ाका खींचना और दूसरा है उसकी प्रमुख विशेषताओं का वर्णन करना और साझा राजनीति की सम्भावना को आगामी लोकसभा चुनाव के संदर्भ में देखना है। लेख का पहला हिस्सा भारत में दलीय प्रणाली के बदलाव का ख़ाका खींचता है, जिसमें प्रतिस्पर्धी बहुदलीय व्यवस्था की शिनाख़्त की गयी है। अगला अध्याय साझा सरकार के कई प्रयोगों का अवलोकन करके गठबंधन-राजनीति की विशिष्ट ख़ूबियों की तरफ़ संकेत करता है। आख़िरी अध्याय आगामी लोकसभा चुनावों के संदर्भ में गठबंधन-राजनीति का पड़ताल करता है।

I

ई. श्रीधरन के मुताबिक़ भारत में गठबंधन-राजनीति की सार्थकता समझाने के लिए दो व्यापक व्याख्यात्मक दृष्टियाँ अपनाई जाती हैं। इसमें से एक पार्टियों और दलीय प्रणाली की व्याख्या सामाजिक विभाजनों के आधार पर करते हुए मानती है कि गठबंधन और गठबंधन-राजनीति मुख्यतः सामाजिक गतिशीलता को ही प्रतिबिंबित करती है। इस सिद्धांत के अनुरूप जो गठबंधन सरकारें बनती हैं, सरकार जो नीतियाँ बनाती हैं और गठबंधन की जो गति होती है— वे सब मौजूदा सामाजिक विभाजनों और उनके रिश्तों की पैदाइश ही हैं। दूसरी व्याख्या यह कहती है कि गठबंधन और गठबंधन की प्रक्रिया उस संस्थागत संरचना या उस वातावरण से ज़्यादा प्रभावित होती है जो राजनीतिक प्रणाली पर बल देता है। इस दृष्टि के अनुसार पार्टियों की कार्यप्रणाली, गठबंधनों का बनना, मंत्रिमण्डल के विभागों का आबंटन और गठबंधनों का कामकाज वग़ैरह व्यवस्थागत संस्थागत नियमों से बँधे होते हैं। गठबंधन की व्याख्या करने वाली ये दोनों दृष्टियाँ गठबंधन की कहानी की विशिष्टता और विविधता को अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत करती हैं और इस प्रकार एक-दूसरे की पूरक हैं। इस लेख में इन सरकारों के भारतीय संस्करण को समझने के लिए सामाजिक और संस्थागत दोनों दृष्टियों का प्रयोग किया गया है।

साझा और गठबंधन सरकारों की कहानी दलीय प्रणाली के रूपांतरण के साथ समझी जा सकती है। अगर हम दलीय प्रणाली के दो काल-खण्डों (आज़ादी के तुरंत बाद और अब की स्थिति) की तुलना करें तो पाएँगे कि पहले एक प्रभुत्वशाली पार्टी के दबदबे पर आधारित दलीय प्रणाली थी जिसकी जगह बहुदलीय होड़ को बढ़ावा देने वाली प्रणाली आ गयी है। कोठारी और मॉरिस जोंस जिसे एक प्रभुत्वशाली पार्टी के दबदबे वाली दलीय प्रणाली के रूप में सूत्रबद्ध करते हैं, वह थीसिस बड़े सारगर्भित तरीक़े से आज़ादी और उसके बाद 1967 तक के दौर की राजनीतिक प्रणाली के स्वभाव को पकड़ती है। जेम्स मेनॅर के अनुसार उस समय कांग्रेस का दबदबा संसद और विधानसभाओं में ही नहीं उनके बाहर भी था। कोठारी के अनुसार उस प्रणाली की ख़ास बात यह थी कि वह कांग्रेस को आम राय के रूप में और विपक्षी दलों को दबाव समूहों के तौर पर देख कर दोनों के बीच संवाद की विशिष्ट प्रकृति को रेखांकित करती थी। इसके तहत विपक्षी दल सत्ता पक्ष का विकल्प बनने की कोशिश करने के बजाय कांग्रेस के भीतर विभिन्न गुटों और समूहों पर असर डाल कर अपनी बात मनवाने की कोशिश करते थे। हालाँकि अन्य पार्टियाँ चुनाव लड़ती थीं लेकिन कांग्रेस की जगह लेने की उनकी उम्मीद न के बराबर ही होती थी, क्योंकि कांग्रेस को समाज के सभी तबक़ों के वोट मिलते

07_kailash_Layout 1 5/1/2014 3:36 PM Page 81

थे। उन दिनों चुनाव परिणामों की भविष्यवाणी काफ़ी ठीक-ठाक की जा सकती थी क्योंकि हर बार कांग्रेस लगभग सभी जगहों पर जीतती थी।

के.सी. सूरी के मुताबिक़ अगर स्वाधीनता के बाद का दौर कांग्रेस का था, तो गैर कांग्रेसी दलों ने ख़ुद को विकसित और मजबूत करने का काम साठ और सत्तर के दशक में किया। कांग्रेस की ताक़त उसका संगठन था जिसके ढहने के साथ ही पार्टी मुरझा गयी। यह उसके सांगठनिक ढाँचे का ही कमाल था कि पार्टी में विचारों का आदान-प्रदान होता रहता था, उन पर आमराय बनती रहती थी, नये विचार आते थे और नये कार्यकर्ताओं की भर्ती होती रहती थी। लेकिन पार्टी के बढ़ते केंद्रीकरण ने संवाद के माध्यम समाप्त कर दिये और पार्टी में तालमेल बैठाने का लचीलापन ख़त्म हो गया। इस पतन के कारण कांग्रेस सर्वानुमति और मध्यमार्गी स्थितियों से हट गयी जिसके कारण वैकल्पिक आवाज़ों के लिए जगह बढ़ती चली गयी।

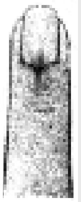

कांग्रेस के बढ़ते केंद्रीकरण ने संवाद के माध्यम समाप्त कर दिये और पार्टी में तालमेल बैठाने का लचीलापन ख़त्म हो गया। इस पतन के कारण कांग्रेस सर्वानुमति और मध्यमार्गी स्थितियों से हट गयी जिसके कारण वैकल्पिक आवाज़ों के लिए जगह बढ़ती चली गयी।

1967 का चुनाव एक मोड़ था जब कांग्रेस आठ राज्यों में बाक़ायदा हारी और उस समय तक के इतिहास में उसे लोकसभा में सबसे कम सीटें हासिल हुईं। कांग्रेस का विपक्ष तब तक दलीय प्रणाली की कार्यशैली समझ चुका था। उसे यह भी समझ में आ गया था कि असरदार ढंग से चुनौती पेश करने के लिए एक साथ आना क्यों ज़रूरी है। मेनॅर ने बताया है कि इस समय तक कांग्रेस पार्टी के भीतर की प्रतिस्पर्धा बाहर आ चुकी थी और उसने ख़ुद को अंतर-पार्टी प्रतिस्पर्धा से जोड़ लिया था। 1967 के बाद भी कांग्रेस को राज्यों और राष्ट्रीय स्तर पर विजय हासिल हुई और प्रमुख पार्टी बनी रही, लेकिन इसके बावजूद दलीय प्रणाली पहले जैसी नहीं रह गयी। नयी दलीय प्रणाली की दो ख़ासियतें थीं। एक यह कि कांग्रेस को चुनौती देने वाले कई प्रकार के दल पैदा हो गये। एक राज्य में कांग्रेस को किसी एक दल से चुनौती मिलने लगी तो किसी दूसरे राज्य में किसी अन्य दल से। यह स्थिति राजनीतिक प्रणाली के संस्थागत संचालन और सामाजिक विशिष्टताओं के कारण बनी थी।

ट्रूमॅन और गैब्रियल जैसे विद्वानों के मुताबिक़ संघीय व्यवस्था में राजनीतिक पार्टियों का गठन सत्ता के भौगोलिक विभाजन के समांतर खड़ा होता है। इसी के साथ संघीय व्यवस्था राजनीतिक दलों को सकल राजनीतिक व्यवस्था के दायरे से बाहर गये बिना विशेष इलाक़ों और भूभागों में केंद्रित होने का अवसर देती है। इस दौरान ये पार्टियाँ प्रतिस्पर्धात्मक भी बनी रहती हैं। प्रदीप छिब्बर और जॉन पेत्रोचिक के अनुसार कांग्रेस भी अपने प्रभुत्व के शिखर पर राज्य और स्थानीय दलों का एक गठबंधन थी जिनके बीच में समूहगत हितों के लिहाज़ से मतभेद रहता था। संघीय प्रणाली की बारीक़ियों को समझते हुए नयी पार्टियाँ स्थानीय स्थितियों की ज़रूरत भाँप कर कांग्रेस के लिए चुनौती के तौर पर सामने आ गयीं। लगता है इसी दौरान कांग्रेस के पुराने विरोधियों ने भी ख़ुद को ज़्यादा असरदार बनाने की अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को और बल प्रदान किया।

इन स्थानीय स्थितियों में अन्य बातों के अलावा जाति, भाषा, क्षेत्र, धर्म और वर्ग शामिल थे और उनमें वे राज्यवार परिवर्तन होता रहता था। कुछ राज्यों में पार्टियों ने जनता को लामबंद कर कांग्रेस

के विरोध में प्रभावी विपक्ष तैयार करने के लिए क्षेत्रीय भावनाओं और/या सांस्कृतिक आयामों का दोहन किया। दूसरे राज्यों में पार्टियों ने आबादी के उस वर्ग को लामबंद किया जिसने एक सम्भव हद तक आर्थिक समृद्धि तो हासिल कर ली थी लेकिन उसे लगता था कि उनकी राजनीतिक आवाज़ नहीं है। आबादी का यह वर्ग मुख्य रूप से मँझोली और पिछड़ी जातियों से आता था। योगेंद्र यादव ने इस दौर को पहले लोकतांत्रिक उभार के तौर पर चिह्नित किया है। इस घटनाक्रम ने राष्ट्रीय दलीय प्रणाली से इतर राज्यों में अलग दलीय प्रणाली खड़ी कर दी। जेम्स मेनॅर का यह अवलोकन इस स्थिति का निचोड़ है, में एक दलीय प्रणाली न हो कर कई दलीय प्रणालियाँ हैं।

1971 में लोकसभा और विधानसभा चुनावों को एक दूसरे से अलग कर देने से भी पार्टियों की बहुलता का रास्ता खुला। संघीय व्यवस्था में समान राजनीतिक स्तर का महत्त्व उस समय बढ़ जाता है जब एक साथ चुनाव होते हैं। एक साथ होने वाले चुनाव न सिर्फ़ सरकार में तमाम स्तरों पर बने मतभेदों को कम करते हैं बल्कि उन्हें काफ़ी हद तक जोड़ते भी हैं। इस तरह के चुनावों में कांग्रेस कई बड़े व लोकप्रिय नेताओं की हवा के साथ जोड़ कर छोटे लोगों को भी जीत दिला ले जाती थी। चुनावों को अलग किये जाने से राष्ट्रीय और क्षेत्रीय दोनों स्तरों में तीव्र विभेद को बढ़ावा मिला और अलग व स्वतंत्र राजनीतिक पार्टियों के विकास की सम्भावना बढ़ी। अब किसी क्षेत्र-विशेष में स्थित राजनीतिक दल के लिए यह सम्भव हो गया कि वह राष्ट्रीय स्तर पर अपनी शक्तियों को ख़र्च करने के चक्कर में फँसे बिना अपना अस्तित्व बचाए रख सके।

1967 से 1989 के बीच कांग्रेस का विरोध करने वाली पार्टियाँ दबाव डालने वाली भूमिका से आगे निकल कर सत्ता हस्तगत करने वाली पार्टियाँ बन गयीं, हालाँकि वैसा उन्होंने राष्ट्रीय स्तर पर नहीं बल्कि राज्य के स्तर पर किया। ऐसा इसलिए हो सका कि राज्य के स्तर पर ग़ैर-कांग्रेसी ज़मीन बनने लगी और इसकी झलक विपक्षी एकता सूचकांक (विएसू) में बढ़ोतरी के रूप में दिखाई पड़ती है। कांग्रेस स्वयं कई राज्यों में सत्ता से हटा दी गयी। इससे केंद्र और राज्य के संबंधों का मामला पार्टियों की प्रतिस्पर्धा का हिस्सा बन गया। सरकार और विपक्ष के बीच टकराव बढ़ा और उस पर कांग्रेस के अड़ियल रुख के कारण न सिर्फ़ केंद्र और राज्य के संबंधों का राजनीतीकरण हो गया बल्कि वह अनायास ही बहुत लम्बे समय तक ग़ैर-कांग्रेसी दलों को एक साथ बाँधे रखने वाले गोंद का काम करता रहा।

इन स्थितियों ने 1989 के बाद के दौर में प्रतिस्पर्धात्मक बहुदलीय प्रणाली के उदय के लिए मंच तैयार किया। इस दौर में कांग्रेस सत्ता से हटा दी गयी और राजनीतिक प्रतिस्पर्धा के बीच उसकी स्थिति किसी भी अन्य पार्टी जैसी हो गयी। सुहास पलशीकर के मुताबिक़ इसी के साथ उत्तर-कांग्रेस राजनीतिक प्रणाली का उदय हुआ। इसी दौर में, विशेष तौर पर उत्तरी राज्यों में अनुसूचित जाति के मतदाता बड़ी संख्या में कांग्रेस का साथ छोड़ कर चले गये। बहुजन समाज पार्टी ने अनुसूचित जातियों के उत्थान के एकल मुद्दे पर अभियान चलाया जिसे निश्चित रूप से बड़ी सफलता मिली। जिस तरह साठ के दशक में मध्यवर्ती जातियों ने महसूस किया था, सम्भवतः उसी तरह से अनुसूचित जातियों ने भी नब्बे के दशक में महसूस किया कि कांग्रेस उनकी आकांक्षाओं के प्रति संवेदनशील नहीं है।

नीचे दिया गया ग्राफ़ कांग्रेस के मत-प्रतिशत की तुलना उत्तर-कांग्रेस युग की तीन विभिन्न श्रेणियों की पार्टियों से करता है। इनमें एक श्रेणी तो कई राज्यों में फैली भारतीय जनता पार्टी की है, दूसरी एक से अधिक राज्यों में फैली पार्टियाँ हैं और तीसरी श्रेणी उन पार्टियों की है जो सिर्फ़ एक राज्य में है। इसमें निर्दलीय भी शामिल हैं।[1] इससे स्पष्ट पता चलता है कि विपक्ष की जो चुनौती अब

---

[1] बहुराज्यीय पार्टियाँ वे छोटी पार्टियाँ हैं जिनकी चुनाव आयोग ने कई चुनावों में राष्ट्रीय के रूप में पहचान कर रखी है. वे कई राज्यों में चुनाव लड़ती हैं और सीटें जीतती हैं. एकल राज्य पार्टियाँ अनिवार्य तौर पर राज्य-विशेष तक सीमित होती हैं. ज़्यादा ब्योरे के लिए देखें, बलवीर अरोड़ा और के.के. कैलाश (2013), 'न्यू पार्टी सिस्टम : फ़ेडरलाइज़्ड ऐंड बाइनोडल', अजय मेहरा (सम्पा.) *पार्टी सिस्टम इन इण्डिया : इमर्जिंग ट्रैजेक्टरीज़,* लैंसर पब्लिसर्स, नयी दिल्ली : 235-61.

तक राज्य स्तर तक सीमित थी अब राष्ट्रीय स्तर तक पहुँच गयी है। दो लगभग सारे देश में फैली पार्टियाँ ज़्यादा वोट खींचती रहीं, लेकिन यह बात अन्य बहु-राज्यीय पार्टियों के बारे में नहीं कही जा सकती थी। ये दल दो बड़ी पार्टियों और एक राज्य में सक्रिय पार्टियों के बीच उलझ कर रह गये। इस दौर की विशेषता यह रही कि जिन पार्टियों ने अपना जनाधार एक राज्य में बनाने पर ध्यान दिया, उनका असर काफ़ी बढ़ा।

ग्राफ़-1

1989 से 2009 के बीच निर्दलियों समेत राजनीतिक दलों के वोट (प्रतिशत में)

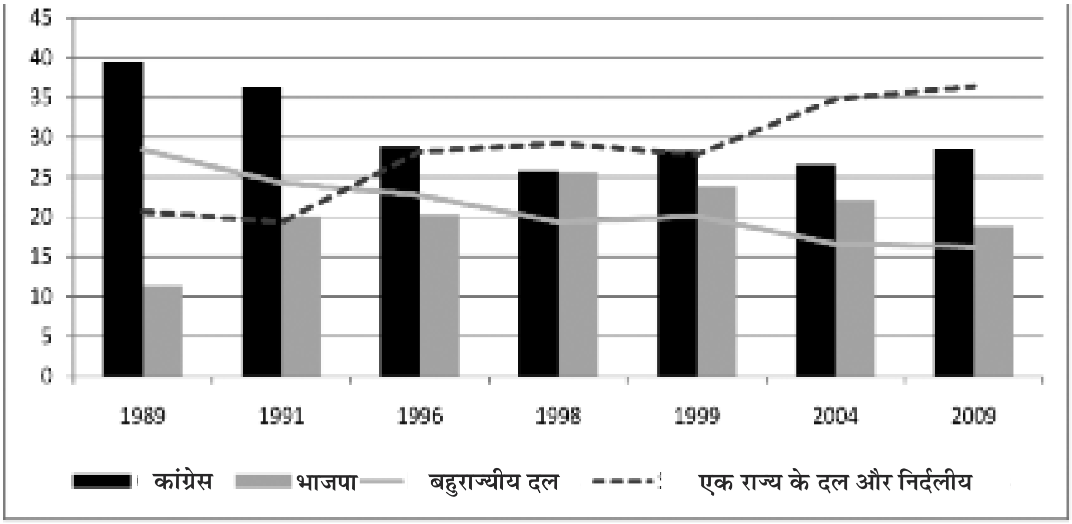

स्रोत : नौवीं से पंद्रहवीं लोकसभा के चुनावों की जानकारी के लिए देखें, चुनाव आयोग की वेब साइट एचटीटीपी://ईसीआई.एनआईसी.आइएन/

उत्तर कांग्रेस प्रणाली के इस नये दौर के तीन विशिष्ट गुण रहे हैं जिन्होंने गठबंधन-राजनीति और साझा सरकारों के खेल को प्रभावित किया है। पहला गुण यह रहा है कि इस दौरान राजनीतिक दलों क्षेत्र-विशेष की राजनीति पर महारत हासिल करते चले गये। इसी प्रक्रिया को विभिन्न विद्वानों ने अपनी-अपनी व्याख्या-दृष्टि के अनुरूप क्षेत्रीयकरण, संघीयकरण और विखण्डनीकरण का नाम दिया है। 1989 के बाद के लोकसभा चुनावों ने दर्शाया है कि राजनीतिक दलों के जनाधार में प्रत्यक्ष अंतर दिखाई पड़ने लगा है। दो बड़ी पार्टियों के जनाधार में कांग्रेस का जनाधार एक तरफ़ पूरे देश में विरल रूप से बिखरा हुआ है, लेकिन इसी के साथ दूसरी तरफ़ कई क्षेत्रों में वह कमज़ोर है और कहीं वह अनुपस्थित तक है। दूसरी बड़ी पार्टी यानी भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) का उत्तर में सघन जनाधार है लेकिन दक्षिण व पूर्व में नगण्य है। दक्षिण और पूर्व के इलाक़ों में राज्य आधारित दलों का दबदबा है। यह विशिष्ट प्रवृत्ति गठबंधन परिभाषित करने में अहम भूमिका निभाती है।

दूसरी बात यह है कि यह दौर बढ़ती प्रतिस्पर्धाओं का दौर है। नीचे की तालिका दर्शाती है कि मुक़ाबले की निकटता, उम्मीदवारों और पार्टियों के मुक़ाबले, संसद में सबसे बड़ी और दूसरे नंबर की पार्टी की सीटों के अनुपात और सरकारों के उलट-फेर के मामले में उत्तर-कांग्रेस दौर और उसके पहले के दौर में स्पष्ट अंतर है। इसी के साथ वोटों और सीटों के संदर्भ में नापी जाने वाली दलीय प्रणाली का विखण्डन भी पिछले सालों में बढ़ा है। संसद में प्रतिनिधित्व पाने वाली पार्टियों की संख्या

07_kailash_Layout 1 5/1/2014 3:36 PM Page 84

और क़िस्म पिछले समय में बढ़ी है। ऐसा मुख्यतः इसलिए है क्योंकि अब हर राज्य के पास अपनी पार्टी–स्पर्धा की विशिष्ट प्रवृत्ति और अलग दलीय प्रणाली है। चूँकि किन्हीं दो राज्यों में एक तरह की पार्टी–स्पर्धा नहीं है इसलिए राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिनिधित्व पाने वाली पार्टियों की संख्या और विविधता बढ़ गयी है। लोकसभा चुनाव राज्य के विजेताओं का जोड़ हो गया है।

तालिका–1

स्वाधीनता के बाद प्रतिस्पर्धा और विखण्डन

लोकसभा	पार्टियाँ		आरएफएस	करीबी	ईएनपी	ईएनपी
	चुनाव लड़ीं	चुनाव जीतीं		%	वोट	सीटें
	1	2	3	4	5	6
1951	41	15	22.75	45.19	4.53	1.80
1957	15	13	13.74	51.62	3.98	1.76
1962	26	21	12.45	41.7	4.40	1.85
1967	24	19	6.43	42.7	5.19	3.16
1971	54	25	14.08	24.33	4.63	2.12
1977	35	19	1.92	17.16	3.40	2.63
1980	37	18	8.61	31.19	4.25	2.28
1984	36	18	14.13	28.47	3.99	1.69
1989	114	25	1.38	39.13	4.80	4.35
1991	147	25	2.03	47	5.10	3.70
1996	210	31	1.15	53.59	7.11	5.83
1998	177	40	1.29	60.22	6.91	5.28
1999	170	39	1.60	59.48	6.74	5.87
2004	231	39	1.05	50.64	7.60	6.50
2009	364	39	1.76	62.98	7.98	5.01

स्रोत : स्तम्भ संख्या 1 से 4 तक पहली और पंद्रहवीं लोकसभा के आमचुनावों की रपट की गणना पर आधारित हैं और यह भारतीय चुनाव आयोग की साइट एचटीटीपी://ईसीआई.एनआईसी.आएन/ पर उपलब्ध है। इस विश्लेषण के लिए स्वतंत्र उम्मीदवारों को एकल इकाई के रूप में देखा गया है। स्तम्भ संख्या 5 और 6 की जानकारी श्रीधरन (2012) में दी गयी तालिका–7 ली गयी है।

नोट : अनुपात का मतलब है लोकसभा में पहली और दूसरी पार्टी के बीच का अनुपात। निकटता उन क्षेत्रों को (%) दर्शाती है जहाँ जीत का अंतर 10 प्रतिशत से कम है। पा–वो–सी यानी पार्टियों, वोटों और सीटों की संख्या।

तीसरी विशेषता यह है कि उत्तर–कांग्रेस प्रणाली के बाद राजनीति के केंद्रीय मंच राज्य हो गये हैं। राज्यों की केंद्रीयता विभिन्न प्रकार से दिखाई पड़ती है। तथ्य यह है कि लोकसभा चुनाव के लिए राज्य स्तर पर लोग स्थानीय नज़रिये से वोट देते हैं, राजनीतिक पसंद की प्रकृति और इस पसंद का परिणाम हर राज्य में अलग–अलग होता है। राज्य आधारित दल ज़्यादा दिखाई पड़ने लगे हैं और वे ज़्यादा प्रमुख भूमिका निभाते हैं और आख़िरकार राजनीतिक पहचान का स्वरूप राज्य की सीमाओं के इर्द गिर्द उभरने लगा है।

07_kailash_Layout 1 5/1/2014 3:36 PM Page 85

दलीय प्रणाली में हुए ये परिवर्तन राष्ट्रीय स्तर पर सरकार के गठन में स्पष्ट भूमिका निभाने लगे हैं। उत्तर-कांग्रेस-युग की शुरुआत के बाद किसी एक पार्टी को अपने बूते विविध प्रकार के वोट नहीं हासिल हुए हैं। दूसरे शब्दों में 1989 के बाद हम विजेता विहीन चुनाव कर रहे हैं। नतीजतन एक के बाद एक दस गठबंधन या अल्पमत सरकारें गठित हुई हैं।

II

गठबंधन और मिली-जुली राजनीति की विशेषताएँ और रुझान

भारत में गठबंधन-राजनीति का विशिष्ट गुण निस्संदेह चुनावी तालमेल और सीटों का समायोजन है। गठबंधन-राजनीति पर हुए हाल के अध्ययनों में इस आयाम पर ज़्यादा ध्यान नहीं दिया गया। गठबंधन के ज़्यादातर अध्ययनों में यह आम तौर पर माना गया कि सौदेबाज़ी और गठबंधन राजनीति चुनाव के बाद की परिघटना है और चुनाव अपने आप में भावी घटनाओं के लिए महत्त्वहीन है। यह निष्कर्ष युरोपीय सोच से प्रभावित है और इसमें संस्थागत पूर्वग्रह भी है। गठबंधन के साहित्य में जिन देशों का अक्सर अध्ययन किया जाता है वे वास्तव में एक स्थापित आदर्श के खाँचे में फ़िट होने वाले देश हैं। वे मूलत: युरोपीय देश हैं और उनकी विशेष संस्थागत संरचना है जिससे उनकी राजनीति संचालित होती है। संघीय ढाँचे के विपरीत ये देश केंद्रीय ढाँचे वाले हैं। लिजफ़र्ट के प्रभावशाली सिद्धांतीकरण का इस्तेमाल करने पर दिखेगा कि ये देश बहुमत पर आधारित न होकर सर्वानुमति पर आधारित हैं और आनुपातिक प्रतिनिधित्व वाले चुनावी नियमों का इस्तेमाल करते हैं।

गठबंधन-अध्ययन द्वारा सीमित उदाहरणों की पड़ताल से यह मान्यता निकली है कि गठबंधन-राजनीति चुनाव हो जाने के बाद शुरू होती है। ज़रूरी नहीं कि यह नतीजा ग़लत ही हो। हालाँकि जो प्रणालियाँ एकल समानुवर्ती (जो आगे वही जीता)(एफ़पीटीपी) के चुनावी नियम का इस्तेमाल करती हैं, वहाँ गठबंधन-राजनीति चुनाव के समय ही शुरू हो जाती है और इसका बुनियादी प्रभाव पड़ता है। ऐसा इसलिए क्योंकि एफ़पीटीपी प्रणाली में अवसरों की जो संरचना है वह आनुपातिक प्रतिनिधित्व (पीआर) से बहुत अलग है। एफ़पीटीपी के तहत प्रतिस्पर्धी उम्मीदवारों में जिसे सबसे ज़्यादा वोट मिलते हैं वह विजयी घोषित हो जाता है। इस बात से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि उसे कितने वोट मिले हैं। इसके विपरीत पीआर प्रणाली के तहत विजयी घोषित किये जाने के लिए उम्मीदवार को वोटों का एक निर्धारित कोटा प्राप्त करना ही होता होता है। पीआर प्रणाली में सीट जीतने के लिए जितने वोट चाहिए उनके बारे में पहले से जानकारी होती है जबकि एफ़पीटीपी में वैसा नहीं होता। यहाँ जीतने वाले के वोट इस लिहाज़ से बदल सकते हैं कि कितने वोट पड़े। नतीजतन एफ़पीटीपी (फ़र्स्ट पास्ट द पोस्ट) प्रणाली में पार्टियों और उम्मीदवारों के पास तालमेल करने का प्रलोभन होता है ताकि वे वोट इकट्ठा कर विविध प्रकार के वोटों को पाने की सम्भाव्यता बढ़ा सकें।

इसलिए इस बात में आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि एक प्रतिस्पर्धी बहुदलीय प्रणाली के उभार (जिसके तहत अनिश्चितता तो बढ़ती ही है, ज़्यादा वोटों के बरबाद होने का अंदेशा भी बढ़ता है) के तहत तालमेल करना या न करना पार्टी या गठबंधन की सफलता या विफलता की कुंजी है। 1989 के बाद चुनाव-पूर्व गठबंधन (जिसे सीटों का तालमेल भी कहा जाता है) चुनावी परिदृश्य का अविभाज्य अंग हो गया है। चुनाव-पूर्व का समझौता संबंधित दलों के बीच उन सीटों की संख्या तय कर देता है जिन पर उन्हें चुनाव लड़ना होता है। इसके साथ वह गठबंधन का दायरा और सीमा भी निर्धारित कर देता है। इसमें उन क्षेत्रों का निर्धारण होता है जिन पर चुनाव लड़ा जाना और उन पर संयुक्त या एकल प्रचार होना है, इत्यादि। यह व्यवस्था गठबंधन के भागीदारों के बीच वोटों की अदला-बदली का माहौल बनाती है। ये समझौते नामांकन प्रक्रिया से पहले हो जाते हैं। गठबंधन बनाने की कसरत न सिर्फ़ चुनाव-घोषणा से पहले शुरू हो जाती है, बल्कि ज़्यादा विवादास्पद और विखण्डनकारी भी होती है।

07_kailash_Layout 1 5/1/2014 3:36 PM Page 86

1989 के नौवें आम चुनाव में नव गठित जनता दल और राष्ट्रीय मोर्चा की सफलता व्यापक तौर पर विभिन्न दलों के बीच सीटों के लक्ष्य-केंद्रित तालमेल पर निर्भर थी जिसमें तेलुगु देशम (तेदेपा), द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम (द्रमुक), असम गण परिषद (अगप) और शिरोमणि अकाली दल (शिअद) जैसे राज्य आधारित दल और वाम मोर्चा और भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) भी शामिल थी। यह एक मुक़म्मल व्यवस्था नहीं थी क्योंकि कुछ सहयोगियों में गम्भीर मतभेद थे। हालाँकि भाजपा और वाममोर्चा ने जनता दल का समर्थन किया, लेकिन वे एक दूसरे के सख़्त ख़िलाफ़ थे। हिंदीभाषी क्षेत्र के 85 प्रतिशत इलाक़ों में चुनावी तालमेल चुनाव की घोषणा के दस दिनों के रिकार्ड समय में हो चुका था। उस समय कांग्रेस ने निर्धारित समय से पहले चुनाव कराने का फ़ैसला करके विपक्षी दलों को चौंकाने और उनके एक साथ आने की कोशिशों को रोकने का प्रयास किया था।[2] लेकिन जनता दल विपक्षी एकता की आधारशिला बना और उसके कारण विभिन्न राजनीतिक खिलाड़ियों के बीच समझौता हुआ। इस समझौते के चलते मतों की बरबादी रुकी और कांग्रेस के ख़िलाफ़ एक संयुक्त मुक़ाबला हुआ जो कि अब तक कई तबक़ों मिले-जुले वोटों के कारण सत्ता पर क़ाबिज़ थी। इस माहौल में राष्ट्रीय मोर्चा के नेताओं को यह दावा करने का मौक़ा मिला कि उनका समझौता तो जनता दल के साथ था— वे गठबंधन के दूसरे दलों की परवाह क्यों करें।

वामपंथी दल और भाजपा विश्वनाथ प्रताप सिंह की सरकार में शामिल नहीं हुए, लेकिन उन्होंने उसे बाहर से समर्थन देना मुनासिब समझा। इस तरह बाहरी समर्थन भी भारतीय राजनीति की महत्त्वपूर्ण विशेषता बन कर उभरी। इस व्यवहार की व्याख्या के लिए सैद्धांतिक तौर पर तीन कारण बताए जा सकते हैं। इसकी पहली व्याख्या यह है कि जो बाहर से समर्थन देते हैं वे सरकार से जुड़े नुक़सान के भागीदार नहीं बनना चाहते और इस तरह वे तुलनात्मक तौर पर सरकार से एक दूरी बनाए रखना चाहते हैं। दूसरी व्याख्या यह है कि जो पार्टियाँ अपने नीतिगत लक्ष्य हासिल करने को ज़्यादा वरीयता देती हैं उन्हें गठबंधन की सत्ता में शामिल होने से फ़ायदा होता नहीं दिखता। बाहरी समर्थन देने से वे अपनी नीतियों को लागू करवाने का लक्ष्य भी प्राप्त कर सकती हैं और सरकार विरोधी जनमत का शिकार होने से भी बच जाती हैं। तीसरी वजह यह है कि गठबंधन बनाने वाले स्वयं भी सत्ता में हिस्सेदारी नहीं देना चाहते और बाहर के समर्थन को ही अच्छा मानते हैं। ऐसा आम तौर पर तब होता है जब गठबंधन बनाने वाले जानते हैं कि समर्थन देने वालों के पास सीमित विकल्प है। भारत की गठबंधन-राजनीति में बाहरी समर्थन की वजह समझने के लिए ये सभी व्याख्याएँ उपयोगी हैं।

विश्वनाथ प्रताप सिंह की सरकार के गिरने के बाद जिस कड़वाहट के साथ सहयोगी दल अलग हुए ,उससे यह तो तय हो गया कि भविष्य में सीटों के तालमेल पर समन्वय हो पाना सम्भव नहीं होगा। चंद्रशेखर की सरकार गिरने के बाद हुए 1991 के चुनाव में कांग्रेस विरोधी वोट विभिन्न दलों के बीच बँट गये और कांग्रेस एक बार फ़िर सत्ता में आ गयी। चुनावों में कांग्रेस ने अपने पारम्परिक सहयोगियों तमिलनाडु में अन्नाद्रमुक, आंध्र प्रदेश में एमआईएम और केरल में केसीएम के साथ गठबंधन किया। इन दलों ने पीवी नरसिंह राव की अल्पमत कांग्रेस सरकार को बाहरी समर्थन दिया।

1996 में कांग्रेस का कार्यकाल समाप्त होने के बाद हुए अगले चुनाव में अब तक का सबसे प्रतिस्पर्धात्मक चुनाव हआ। व्यापक चुनावी तालमेल न होते हुए भी पचास प्रतिशत से भी ज़्यादा क्षेत्रों के चुनाव दस प्रतिशत से भी कम वोटों के अंतर से जीते गये। हालाँकि 1989 के जख़्म अभी भी मौजूद थे, लेकिन उससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि इस दौरान भारतीय राजनीति का विमर्श बदल चुका था। योगेंद्र यादव के अनुसार मण्डल, मंदिर और मार्केट (जिसे सामान्य बातचीत में जिसे तीन

[2] *इण्डिया टुडे* (1989), नवम्बर : 24.

07_kailash_Layout 1 5/1/2014 3:36 PM Page 87

एम या तीन मकार कहा जाता है) की तितरफ़ा परिघटना ने न केवल 1990 के राजनीतिक एजेंडे पर क़ब्ज़ा कर लिया था। उसने राजनीतिक प्रतिस्पर्धियों को बहुविध तरीक़े से जोड़ा भी और बाँटा भी।

बढ़ती प्रतिस्पर्धा के बावजूद सैद्धांतिक तौर पर ऐसे तीन कारण थे जो चुनावी गठबंधन को दूसरी पसंद बनाते थे। पहली वजह थी वैचारिक अनुकूलता की बाधाएँ जो चुनाव-बाद के मुक़ाबले पहले ज़्यादा मजबूत होती हैं। माना जाता है कि मतदाता उसे वोट देने में अनिच्छुक होगा जिसकी नीतिगत प्राथमिकताएँ असंगत हों। दूसरे, यह भी सम्भव है कि मतदाता या पार्टी सदस्य उतनी आसानी से गठबंधन के साथियों को स्वीकार नहीं करते जितनी आसानी से उनके नेता किसी तरह के समझौते पर पहुँचते हैं। तीसरी बात यह है कि गठबंधन बनाने वाले कोई प्रतिबद्धता जताए बिना सहयोगियों के लिए विकल्प का विस्तार करना चाहते हैं। इनमें से कोई भी स्थिति चुनाव के बाद के गठबंधन की सम्भावना को बढ़ा देती है। इसलिए जहाँ गठजोड़ और गठबंधन के विचार 1996 में भी प्रासंगिक रहे, वहीं इसके सामने अतिरिक्त बाधाएँ उत्पन्न हो गयीं।

1996 के चुनाव के बाद भाजपा व अन्य, जनता दल व अन्य और कांग्रेस व अन्य समेत तीन ऐसे खेमे बन गये जो सरकार बनाने की दावेदारी कर सकते थे। संसद में सबसे ज़्यादा सीटें जीतने वाली भारतीय जनता पार्टी को सबसे पहले सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया गया। लेकिन पार्टी अपनी सत्ता की अल्पकालिक अवधि में मौजूदा सहयोगियों के अलावा अन्य किसी दल या संख्या को समर्थन के लिए आकर्षित करने में सफ़ल नहीं हो पायी। इसके परिणामस्वरूप संयुक्त मोर्चा को सरकार बनानी पड़ी। यह मोर्चा चुनाव के बाद बना था और इसमें वाम दल समेत एक राज्य में सफल होने वाली पार्टियाँ शामिल थीं। संयुक्त मोर्चा के ज़्यादातर सदस्यों के लिए उनके राज्य में कांग्रेस मुख्य प्रतिस्पर्धी दल थी। इसलिए इस बात की सम्भावना बहुत कम थी कि वे कांग्रेसनीत किसी सरकार को समर्थन देंगे या उसमें शामिल होंगे। चूँकि कांग्रेस के लिए विकल्प सीमित थे इसलिए उसे संयुक्त मोर्चा सरकार का समर्थन करना पड़ा। दरअसल, वह अपना मुख्य प्रतिद्वंद्वी भाजपा को मानती थी न कि जनता दल और वाम दलों को। कांग्रेस सत्ता से बाहर रही लेकिन उसने संयुक्त मोर्चा सरकार की लगाम इतनी कस रखी थी कि उसके पास दाएँ-बाएँ करने की ज़्यादा गुंजाइश नहीं थी। कांग्रेस ने अंतिम तौर पर समर्थन वापस लेने का फ़ैसला लेने से पहले बीच में एक बार संयुक्त मोर्चा को अपना नेतृत्व बदलने पर भी मजबूर किया।

इसी कड़ी में 1998 में हुए चुनावों ने एफ़पीटीपी प्रणाली के भीतर चुनावी गठजोड़ के महत्त्व को रेखांकित किया। तब तक भाजपा को अहसास हो चुका था कि देश के एक बहुत बड़े हिस्से में उसकी कोई हैसियत नहीं है और उसे किसी प्रकार का चुनावी फ़ायदा नहीं मिल रहा है। उसे लगा कि इस कमी को तभी पूरा किया जा सकता है जब वह उन राज्यों में चुनावी सहयोगी जोड़ सके जहाँ उसकी उपस्थिति नगण्य है या वह वोट काटने वाली पार्टी के तौर पर मौजूद है। 1998 और उसके तत्काल बाद हुए 1999 के चुनाव में भाजपा ने उन तमाम राज्यों में छोटे भाई की भूमिका निभाना स्वीकार किया जहाँ राज्य की पार्टियों की बड़ी ताक़त थी। इससे भाजपा को उन राज्यों और क्षेत्रों में अपना खाता खोलने में सुविधा हुई जहाँ वह अपने पैर जमाने में दिक़्क़त महसूस कर रही थी।

राज्य आधारित पार्टियाँ भाजपा से गठजोड़ करते समय इस बात के लिए पूरी तरह सचेत थीं कि भाजपा की ताक़त किस तरह बढ़ रही है। इसलिए वे राज्य के स्तर पर प्रतिस्पर्धा जीतने की तैयारी भी कर रही थीं। इस सेतु-बंधन गठजोड़ ने भाजपा की कामयाबी में चार चाँद लगा दिये। आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु और ओडीशा के 1998 और 1999 के चुनाव परिणामों की 1996 के परिणामों से तुलना करने पर हमें इस आयाम का बहुत अच्छी तरीक़े से पता चलेगा । इस रणनीति से न सिर्फ़ भाजपा की संख्या बढ़ी बल्कि ज़्यादा समर्थकों को जुटाने और संसद में समर्थन जोड़ने में मदद मिली। इन गठबंधनों ने भाजपा को राजनीतिक प्रणाली जैसे दर्जे के क़रीब पहुँचा दिया।

07_kailash_Layout 1 5/1/2014 3:36 PM Page 88

भाजपा ने 1999 में अनौपचारिक व्यवस्था पर भरोसा करने और पारस्परिक सदिच्छा पर ही आधारित रहने की बजाय विभिन्न सहयोगी दलों के साथ रिश्तों को औपचारिक और संस्थागत जामा पहनाने के साथ अपनी गठजोड़-रणनीति में सुधार किया। चुनाव से पहले राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (राजग) के गठन ने चुनाव-पूर्व तालमेल और दूसरे स्तर पर गठबंधन प्रणाली को धीरे-धीरे संस्थागत रूप देने का महत्त्व स्थापित किया । राजग सबसे बड़ा चुनाव-पूर्व गठबंधन था। चुनाव पूर्व बने अट्ठारह दलों के गठबंधन, जिसमें कुछ एक सीट वाली पार्टियाँ भी थीं, को 306 सीटों पर जीत हासिल हुई और वह आसानी के साथ सरकार बना सकी।

लेकिन 2004 के चुनावों तक कांग्रेस भी गठबंधन का खेल सीख चुकी थी। उसने राजग का मुक़ाबला करने के लिए एक चुनाव-पूर्व गठबंधन करके उसे संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन का नाम दिया। दो प्रतिस्पर्धी गठबंधनों के अस्तित्व में आने के साथ देश में गठबंधन प्रणाली को संस्थागत रूप प्राप्त हो गया। राजनीतिक प्रणाली का रूप धर चुकीं दो पार्टियाँ ऐसे दो ध्रुव या गठबंधन निर्माता बन गयीं जिनके इर्द-गिर्द गठबंधन करने वाले इकट्ठा होने लगे। इसका अर्थ यह बना कि गठजोड़ या गठबंधन अब ठहरेगा। 2009 के चुनावों में कुछ छोटे-मोटे बदलावों के साथ इसी तरह की व्यवस्था क़ायम रही। 2004 और 2009 में बने गठबंधन राज्य-विशेष से जुड़े थे और उसका मतलब था कि पार्टियाँ एक राज्य में गठबंधन में सहयोगी रहेंगी और दूसरे राज्य में आमने-सामने होंगी।

III

गठबंधनों की ज़रूरत तो आगे भी रहने वाली है लेकिन राजनीतिक दल अपनी रणनीतियों में लगातार सुधार कर रहे हैं। आगामी लोकसभा चुनाव भी नयी रणनीतियों के लिए तैयार हो रहा है। चुनाव से पहले गठबंधन या गठजोड़ का प्रयोग करने के पीछे मुख्य मक़सद ऐसी स्थिति प्राप्त करना होता है जिसके तहत चुनाव के बाद ज़रूरत पड़ने पर संसद में बहुमत साबित किया जा सके। इस तरह का गठबंधन अधिकतम वोट बटोर कर ज़्यादा से ज़्यादा सीटें जीतने के लिए किया जाता है। इसी के परिणामस्वरूप तमाम छोटी पार्टियाँ और एक सदस्य वाली पार्टियों को भी प्रमुख किरदार की हैसियत मिल जाती है। वे अपनी औक़ात से ज़्यादा अकड़ दिखाने लायक़ बन जाती हैं। वे गठबंधन निर्माताओं की बाँह अक्सर उमेठती रहती हैं। छोटी सी बात पर भी साथ छोड़ देने की धमकी दे कर वे गठबंधन पर नकेल कसे रहती हैं।

2009 में दोनों गठबंधन निर्माताओं ने सतर्कतापूर्वक ज़्यादा कुशल आयोजक होने की कोशिश की। निश्चित तौर पर वे एनडीए और यूपीए-1 के प्रयोग से बहुत कुछ सीख चुके थे। वास्तव में गठबंधन बनाने वाले कठिन अनुभव के बाद जीत के योग्य न्यूनतम गठबंधन(राइकर 1970) बनाने की खूबी सीख चुके थे। एक जीतने योग्य न्यूनतम गठबंधन या उसके आसपास की कोई चीज़ एक साथ आने में होने वाले फ़ायदे की बड़ी हिस्सेदारी का अवसर देती है, चाहे सरकार बनाने की शर्तें हों या हर किसी के लिए नीतियों का सवाल हो। इसके अलावा वह उन अवांछित दलों को बाहर रखती है जिनकी ज़रूरत सरकार के अस्तित्व के लिए नहीं होती। हालाँकि किसी को बाहर रखने की यह सम्भावना एक गठबंधन प्रणाली के संस्थागत रूप ग्रहण करने के साथ बनी है। एक संस्थागत गठबंधन प्रणाली के तहत राजनीतिक दल इस बात के लिए सचेत होते हैं कि वे अपने आप चुनाव नहीं जीत सकते या सत्ता में नहीं आ सकते इसलिए वे अपनी सकल रणनीति में चुनावी या चुनाव बाद की जोड़तोड़ (गणना) में उतरती हैं। दूसरे शब्दों में गठजोड़ और गठबंधन जो कि अब सामान्य राजनीतिक समीकरण बन चुके हैं वे राजनीतिक दलों के जोड़ घटाव का अविभाज्य हिस्सा भी बन चुके हैं। उसी के साथ पार्टियों के पास दूसरे दलों के लिए बनी जगह और उनके विकल्पों के बारे में अपूर्ण जानकारियाँ होती हैं।

07_kailash_Layout 1 5/1/2014 3:36 PM Page 89

एक संस्थागत गठबंधन प्रणाली में हालाँकि चुनावी गठजोड़ महत्त्वपूर्ण बने रहते हैं लेकिन वे चुनिंदा तरीक़े से अपनाए जाते हैं। पिछले चुनाव की तरह, हर गठजोड़ राज्य विशेष पर केंद्रित होंगे और चुनाव के बाद होने वाली सौदेबाज़ी और समझौते के लिए पर्याप्त जगह छोड़ कर चलेंगे। चुनाव के बाद के गठजोड़ विशेष तौर पर आकर्षक होंगे क्योंकि वे गठबंधन निर्माताओं को संख्या बल के लिहाज़ से सम्भावित सहयोगी को चुनिंदा प्रस्ताव रखने की गुंजाइश देंगे। यह एक प्रकार से उन्हें अतिरिक्त बोझ लेकर चलने की मजबूरी से बचाएँगे जैसा कि चुनाव पूर्व गठबंधन के साथ होता रहता है।

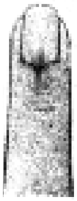

एक सदस्य वाली पार्टियों को भी प्रमुख किरदार की हैसियत मिल जाती है। वे अपनी औक़ात से ज़्यादा अकड़ दिखाने लायक़ बन जाती हैं। वे गठबंधन निर्माताओं की बाँह अक्सर उमेठती रहती हैं। छोटी सी बात पर भी साथ छोड़ देने की धमकी दे कर वे गठबंधन पर नकेल कसे रहती हैं।

एक संस्थागत गठबंधन प्रणाली में चुनाव बाद के गठजोड़ गैर संस्थागत गठबंधन प्रणाली के काफ़ी अलग होते हैं। एक संस्थागत गठबंधन प्रणाली में वे विशेष जोड़–घटाव पर आधारित होते हैं और महज़ समर्थन बढ़ाने के मक़सद से किये गये चलताऊ क़दम नहीं होते। इसका मतलब यह है कि समर्थन का हर प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया जाता और न ही हर किसी को मंत्रिमण्डल का पद दिया जाता है। पार्टियाँ गठबंधन को क्या प्रस्ताव देती हैं वह बहुत महत्त्वपूर्ण कारक होता है। नतीजतन अंतिम चयन किये जाने से पहले समर्थन के हर प्रस्ताव को सावधानीपूर्वक परखा जाता है। कांग्रेस ने 2009 के चुनावों के बाद राष्ट्रीय जनता दल और लोकजनशक्ति पार्टी के साथ जो व्यवहार किया वह सुविचारित आमंत्रण रणनीति का अच्छा उदाहरण है।

अब तक गठबंधन बनाने की जो प्रवृत्ति रही है उससे पता चलता है कि एफ़पीटीपी प्रणाली के सम्भावना ढाँचे और यह तथ्य कि दलीय प्रणाली का संघीयकरण हो गया है, इन दोनों कारकों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। जहाँ राजनीतिक प्रणाली वाली पार्टियों ने क्षेत्रीय ख़ालीपन को भरने के लिए गठबंधन बनाया है, वहीं राज्य आधारित पार्टियों ने उनका इस्तेमाल राज्य के स्तर पर अपनी ताक़त बढ़ाने के लिए किया है। राज्य आधारित दलों के लिए यह महत्त्वपूर्ण है कि किस प्रकार से राष्ट्रीय स्तर पर अपनी आवाज़ उठाकर अपने राज्य के लिए फ़ायदा प्राप्त कर सकती हैं। यह उनका क्षेत्रीय हित होता है जिसके तहत आसानी से गठबंधन के दायरे में प्रवेश करती हैं। इसके बावजूद गठबंधन की यह पद्धति सत्ता में भागीदारी के एक महत्त्वपूर्ण उपकरण के रूप में काम करती रही है, जिसमें एक तरफ़ विविधता की आवश्यकता को समायोजित किया जाता रहा है तो दूसरी तरफ़ राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता को।

दो मोर्चों के बन जाने के बावजूद अन्य दलों के लिए नये स्वरूप पर काम करने की जगह अभी भी बची हुई है। जब भी दो प्रभावशाली गठबंधन निर्माता सीटों की कमी के कारण एक असरदार या भूमिका निभाने में सक्षम नहीं होते तो यह अक्सर होता है कि गठबंधन करने योग्य संगठन बहुत अच्छा काम करते हैं, और एक तीसरे किरदार के उभरने की सम्भावना रहती है। ऐसी स्थिति में गठबंधन करने योग्य संगठन एकजुट होकर गठबंधन निर्माताओं को अपने को समर्थन देने के लिए तैयार करते हैं। हालाँकि उसी के साथ तीसरे और चौथे गठबंधन को बनाना और तोड़ना आसान होता

07_kailash_Layout 1 5/1/2014 3:36 PM Page 90

है। उनका मतलब उन पार्टियों के एक साथ आने से होता है जो एक दूसरे के प्रतिस्पर्धी नहीं होते। इसलिए सीटों की हिस्सेदारी करना या अपनी स्थितियों से समझौता करने की बहुत कम ज़रूरत रहती है। पिछले अनुभव बताते हैं कि एक वैकल्पिक मोर्चा मजबूत करने के लिए जितना तीव्र और व्यवस्थागत दबाव होता, मौजूदा गठबंधन निर्माताओं के लिए उतनी ही ज़्यादा सम्भावना ख़राब प्रदर्शन करने की होती है।

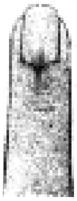

मौजूदा राजनीतिक प्रणाली के ढाँचे को देखते हुए एकल पार्टी सरकार के जल्दी लौटने की सम्भावना नहीं है। गठबंधन प्रणाली के संस्थागत रूप ले लेने के बाद अस्थिर क़िस्म के गठबंधन प्रयोग अब अतीत की बात हो चले हैं।

ज़्यादातर राज्य आधारित दलों के पास हवा का रुख भाँपने की यह उल्लेखनीय क्षमता होती है। वे इन्हीं स्थितियों के अनुरूप गठबंधन में आते जाते रहते हैं। हालाँकि यह किसी आदर्श की कसौटी पर ख़रा नहीं उतर सकता लेकिन पार्टियों के लिए इसका बहुत महत्त्व है क्योंकि उनकी चिंता मूलतः उनका अपना राज्य हुआ करती है।

इस गठबंधनात्मक प्रणाली के बावजूद, यह दर्ज करना महत्त्वपूर्ण है कि कांग्रेस और भाजपा दोनों अनिच्छुक गठबंधन निर्माता हैं। उनकी स्थितियाँ राज्य आधारित गठबंधन योग्य दलों के साथ पूरी तरह से विषम होती हैं। रणनीतिक मजबूरियों के कारण कांग्रेस और भाजपा को दूसरे दलों से बार-बार हाथ मिलाने पर विवश किया है। उन दोनों का आदर्श यही है कि किसी के साथ सत्ता में भागीदारी न करनी पड़े और अकेल शासन किया जाए। यूपीए-2 में ज़्यादा ताक़तवर कांग्रेस ने विशेष तौर पर अपने सहयोगी दलों के साथ और सामान्य तौर पर गठबंधन के साथ जैसा बर्ताव किया वह साफ़ तौर पर संकेत है कि वे सत्ता में हिस्सेदारी के लिए अनिच्छुक क़िस्म की पार्टियाँ हैं। दूसरी तरफ़ एक राज्य में शासन करने वाली पार्टियाँ हालाँकि प्राथमिक तौर पर राज्य स्तर की सत्ता में भागीदारी करने में रुचि रखती हैं, उनके लिए गठजोड़(तालमेल) और गठबंधन महत्त्वपूर्ण जीवन रेखा है। मजबूत केंद्र वाले संघीय ढाँचे के होते हुए सत्ता में होने या सत्ता के क़रीब होने से पार्टी को राज्य के स्तर पर ज़्यादा सुविधा मिलती है। इसके अलावा कांग्रेस के दबदबे वाले लम्बे दौर ने केंद्र और राज्य के संबंधों में तनाव पैदा किये हैं, इससे पार्टियों में केंद्र के लिए स्थायी तौर पर संदेह पैदा हुआ है। नतीजतन राज्य आधारित दल ऐसा तीसरा मोर्चा चाहेंगे जिसे दोनों में से कोई एक गठबंधन निर्माता बाहर से समर्थन दे।

आख़िर में इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि भारतीय राजनीति को गठबंधन की गाड़ी को अभी लम्बे समय तक खींचना है। मौजूदा राजनीतिक प्रणाली के ढाँचे को देखते हुए एकल पार्टी सरकार के जल्दी लौटने की सम्भावना नहीं है। गठबंधन प्रणाली के संस्थागत रूप ले लेने के बाद अस्थिर क़िस्म के गठबंधन प्रयोग अब अतीत की बात हो चले हैं। उसी के साथ यह सोचना यथार्थ से अलग होगा कि बदलती स्थितियों को देखते हुए पार्टियाँ अपने को नये-नये समीकरणों में नहीं ढालेंगी। इसलिए कड़ी सौदेबाज़ी और विचित्र क़िस्म से समझौते होते रहेंगे। हालाँकि पिछले अनुभव बताते हैं कि अगर हम उन्हें राज्य की राजनीति के सौदेबाज़ी करने वाले किरदार के रूप में संदर्भित करें तो पाएँगे कि वे उतने बुरे भी नहीं होंगे।

परिशिष्ट

सन् 1989 के बाद से भारत की गठबंधन सरकारें

क्रम	सरकार[1]	लोक सभा	प्रधानमंत्री	सरकारी गठबंधन[2] (गवर्निंग कोएलिशन)	समर्थक गठबंधन[3] (रूलिंग कोएलिशन)
1	राष्ट्रीय मोर्चा	9	वी.पी. सिंह	जद-द्रमुक-अगप-तेदेपा-कांग्रेस (एस)	माकपा, भाजपा, भाकपा, फ़ारवर्ड ब्लॉक
2	जद से बना नया गुट	9	चंद्रशेखर	सजपा	आईएनसी
3	कांग्रेस[4]	10	पी.वी. नरसिंह राव	आइएनसी (कांग्रेस)	अन्ना द्रमुक, एमयूएल, केसीएम
4	भाजपा+4	11	वाजपेयी		एसएपी, हविपा
5	संयुक्त मोर्चा	11	एच.डी. देवगौड़ा	जद-सपा-जेकेएन-तेदेपा-तमकां (एम)-भाकपा-एआइआइसी (टी) -अगप-द्रमुक-एमजीपी	माकपा, फ़ा.ब्ला., क्रांसोपा, आइएनसी, एमयूएल, एमआइएम, केइसी (एम), जेकेएन, एसडीएफ, बीकेकेपी, झामुमो, एएसडीसी, शिअद (बादल)[5]
6	संयुक्त मोर्चा-2	11	इंद्र कुमार गुजराल	जद-सपा-जेकेएन-तेदेपा-तमकां (एम)-भाकपा-एआईआईसी (टी)-अगप-द्रमुक-मगोपा	माकपा, फाब्ला.,क्रांसोपा, आइएनसी, एमयूएल, एमआइएम, केइसी (एम), जेकेएन, एसडीएफ, बीकेकेपी, झामुमो, एएसडीसी, शिअद (बादल)
7	भाजपा+	12	अटल बिहारी वाजपेयी	भाजपा-एसएचएस-शिअद (बादल)-अन्ना द्रमुक-टीआरसी-पीएमके-एसएपी-एलएस-बीजद-एसी-एलएस	जपा, तेदेपा, भारालोद, एआइटीसी, एमएससीपी, हविपा, एमडीएमके, शक्ति दल
8	राजग	13	अटल बिहारी वाजपेयी	भाजपा-एसएचएस-एसएडी(बी)-द्रमुक-एआइटीसी[6]-एमडीएमके-एसएपी[7]-जद (एकी)-बीजद-पीएमके[8]-रालोद-जेकेएन[9]-आइएफडीपी-एलआइएसपी[10]	आइएनएसडी, तेदेपा, एसडीएफ, शक्ति दल[12], एसएससीपी-बसपा[13], जद (जेपी)[13]
9	संप्रग-1	14	मनमोहन सिंह	आएनसी-एनसीपी-राजद-द्रमुक-पीएमके-एमयूएल-लोजपा -झामुमो-तेरास[14]	सपा, पीडीपी, एसडीएफ, एमडीएमके (बागी), रिपब्लिकन पार्टी, एमआईएम, बीएनपी, एनएलपी, केसीएम, जेकेएन, पीडीपी
10	संप्रग-2	15	मनमोहन सिंह	आइएनसी-एमयूएल-द्रमुक[15]-एआइटीसी[16]-एनसीपी-जेकेएन-रालोद	जेएमएम-एमआइएम[17]-सपा-बसपा, वीसीके, केसीएम-एयूडीएफ-जेवीएम (पी)[18]-बीवीपी

07_kailash_Layout 1 5/1/2014 3:36 PM Page 92

[1] इस परचे में प्रधानमंत्री में परिवर्तन को सरकार में परिवर्तन माना गया है.
[2] सत्तारूढ़ गठजोड़ में वे सभी पार्टियाँ शामिल हैं जो सरकार में होती हैं.
[3] बृहत्तर सत्तारूढ़ गठजोड़ में वे सभी पार्टियाँ शामिल हैं जो सरकार को समर्थन देती हैं लेकिन सत्ता में नहीं होतीं। इनमें गठबंधन का हिस्सा बने दल भी हैं और बाहर से समर्थन करने वाले भी.
[4] कांग्रेस 924 दिनों तक अल्पमत सरकार थी, उसके बाद उसने अपने आप सामान्य बहुमत हासिल कर लिया.
[5] शिरोमणि अकाली दल (बादल) ने संयुक्त मोर्चा की दोनों सरकारों को मुद्दा आधारित समर्थन दिया.
[6] तृण मूल कांग्रेस पश्चिम बंगाल विधानसभा चुनाव तक सत्तारूढ़ गठजोड़ का हिस्सा थी। बाद में वह बृहत्तर सत्तारूढ़ गठजोड़ का हिस्सा बनी.
[7] एसएपी ने 1999 में जद (एकी) के निशान से चुनाव लड़ा लेकिन बाद में उसने अलग पार्टी के रूप में मान्यता हासिल कर ली.
[8] पीएमके ने तमिलनाडु विधानसभा चुनाव के दौरान गठबंधन छोड़ दिया था और बाद में सरकार में शामिल हो गयी.
[9] जेकेएन 2002 के जम्मू-कश्मीर विधानसभा चुनाव तक सत्तारूढ़ गठजोड़ का हिस्सा थी. उसके प्रतिनिधि पार्टी के अध्यक्ष और फिर मंत्रिमण्डल छोड़ने का फ़ैसला किया। हालाँकि पार्टी राजग सरकार का हिस्सा बनी रही.
[10] लोक जनशक्ति पार्टी 2002 तक सरकार का हिस्सा थी, उसके बाद पार्टी गुजरात दंगों के सवाल पर सरकार से अलग हो गयी.
[11] शक्ति दल भी अक्तूबर 2002 तक सरकार का हिस्सा था.
[12] बसपा ने सरकार को तब तक समर्थन दिया जब तक भाजपा ने उत्तर प्रदेश में बसपा सरकार को समर्थन दिया.
[13] जनता दल (जेपी) लोक जनशक्ति पार्टी (लोजपा) से अलग हुआ हिस्सा था और एलजेपी स्वयं जनता दल (एकी) से टूटकर बना था. चार सदस्यीय एलजेपी से दो ने टूट कर जनता दल (जेपी) बना लिया था। उन्होंने अगस्त 2002 में अलग सीट की माँग की.
[14] तेलंगाना राष्ट्र समिति (तेरास) ने कांग्रेस से तब समर्थन वापस ले लिया जब कांग्रेस ने तत्काल अलग तेलंगाना राज्य बनाने से इनकार कर दिया.
[15] द्रमुक ने श्रीलंका में मानवाधिकार के उल्लंघन पर कार्रवाई करने में सरकार के नाकाम रहने पर मार्च 2013 में समर्थन वापस ले लिया. हालाँकि उसने सरकार को मुद्दा आधारित समर्थन दिया.
[16] तृण मूल कांग्रेस ने सितंबर 2012 में उस समय समर्थन वापस लिया जब सरकार ने मल्टीब्रांड खुदरा में विदेशी निवेश, डीज़ल दामों में बढ़ोतरी और गैस सिलेंडरों में कटौती की घोषणा की.
[17] एमआईएम ने नवंबर, 2012 में कांग्रेस सरकार पर आंध्र प्रदेश में साम्प्रदायिक राजनीति करने का आरोप लगाते हुए समर्थन वापस लिया.
[18] जेवीएम (पी) ने अक्तूबर 2012 में डीज़ल दामों में बढ़ोतरी, मल्टीब्रांड में विदेशी निवेश की अनुमति देने और गैस सिलेंडरों की सीमा बाँधने के बाद समर्थन वापस लिया.

संदर्भ

अरेंड लिजफ़र्ट (1984), *डेमॉक्रैसीज़ : पैटर्न ऑफ़ मेजारिटेरियन ऐंड कन्सेन्स गवर्नमेंट इन ट्वेंटी-वन सेंचुरीज़,* येल युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हैवेन ऐंड लंदन.

आस्कर डब्ल्यू. गैबरियल (1989), 'फ़ेडरलिज़्म ऐंड पार्टी डेमॉक्रैसी इन वेस्ट जर्मनी', *पब्लियस : द जरनल ऑफ़ फ़ेडरलिज़्म,* खण्ड 19, अंक 4.

इन इण्डियन स्टेट्स, 1952-2002', *जर्नल ऑफ़ इण्डियन स्कूल ऑफ़ पॉलिटिकल इकॉनॉमी,* खण्ड 15, अंक 1 और 2.

इन इण्डिया 1990, फ्रैंसाइन फ्रैंकेल, ज़ोया हसन, राजीव भार्गव और बलवीर अरोड़ा (सम्पा.), *ट्रांसफ़ार्मिंग इण्डिया : सोशल ऐंड पॉलिटिकल डाइनमिक्स ऑफ़ डेमॉक्रैसी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

ई. श्रीधरन (2002), 'फ्रैग्मेंटेशन ऑफ़ इण्डियन पार्टी सिस्टम, 1952-1999 : सेवेन कम्पीटिंग एक्सप्लेनेशंस', ज़ोया हसन (सम्पा.) *पार्टीज़ ऐंड पार्टी पॉलिटिक्स इन इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस.

ई. श्रीधरन (2004), 'इलेक्टोरल कोएलिशन्स इन 2004 जनरल इलेक्शन्स : थियरी ऐंड एविडेंस', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 39, अंक 51.

ई. श्रीधरन (2005), 'कोएलिशन स्ट्रेट्जीज़ ऐंड द बीजेपीज़ एक्सटेंशन, 1989-2004', *कामनवेल्थ ऐंड कम्पैरेटिव पॉलिटिक्स,* खण्ड 43, अंक 2 :.

ई. श्रीधरन (2012), 'व्हाई आर मल्टी माइनारिटी गवर्नमेंट्स वाएबल इन इण्डिया ? थियरी ऐंड कम्पैरिज़न, *कामनवेल्थ ऐंड कम्पैरेटिव पॉलिटिक्स,* खण्ड 50, अंक 3.

एस.एन. गोल्डर (2006), 'प्रि-इलेक्टोरल कोअलिशन फ़ॉर्मेशन इन पार्लियामेंटरी डेमॉक्रैसीज़', *ब्रिटिश जर्नल ऑफ़ पॉलिटिकल साइंस,* अंक 36 .

के.के. कैलाश (2009), 'अलायंसेज़ ऐंड लेसंस ऑफ़ द इलेक्शन ऑफ़ 2009, *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 44, अंक 39.

के.के. कैलाश (2014), 'कम्पटीशन ऐंड कोएलिशन फ़ार्मेशन इन द न्यू पार्टी सिस्टम', ई. श्रीधरन (सम्पा.) *कोएलिशन पॉलिटिक्स इन इण्डिया,* एकेडमिक, नयी दिल्ली. प्रकाश्य.

के.सी. सूरी (2005), *पार्टीज अंडर प्रेशर : पॉलिटिकल पार्टीज इन इण्डिया सिंस इण्डिपेंडेंस,* लोकनीति— प्रोग्राम आन कंपैरेटिव डेमॉक्रैसीज, सी.एस.डी.एस., नयी दिल्ली.

ग्रेगरी एम. ल्यूबर्ट (1983), 'कोएलिशन थियरी ऐंड गवर्नमेंट फ़ारमेशन इन मल्टीपार्टी डेमॉक्रैसीज़', *कम्पैरेटिव पॉलिटिक्स,* खण्ड 15, अंक 2 .

जेम्स मेनॅर (1995), 'रीज़नल पॉलिटिकल पार्टीज़ इन फ़ेडरल सिस्टम : इण्डिया इन कम्पैरेटिव पर्सपेक्टिव', बलवीर अरोड़ा और डगलस वर्नी (सम्पा.), *मल्टिपल आइडेंटटीज़ इन ए सिंगल स्टेट : इण्डियन फ़ेडरलिज़्म इन कम्पैरेटिव पर्सपेक्टिव,* कोणार्क, नयी दिल्ली.

जेम्स मेनॅर (2002), 'पार्टीज़ ऐंड पार्टी सिस्टम', ज़ोया हसन (सम्पा.), *पार्टीज़ ऐंड पार्टी पॉलिटिक्स,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

ज़ोया हसन (1999), 'रीजन ऐंड नेशन इन इण्डियाज़ पॉलिटिकल ट्रांजिशन', इयान कोपलैंड और जान रिकॉर्ड (सम्पा.), *फ़ेडरलिज़्म : कम्पैरेटिव पर्सपेक्टिव फ्रॉम इण्डिया ऐंड ऑस्ट्रेलिया,* मनोहर, नयी दिल्ली .

डगलस वी, वर्नी (2002), 'हैज प्रोलिफ़रेशन्स ऑफ़ पार्टीज़ अफ़ेक्टेड इण्डियन फ़ेडरेशन : ए कंपैरेटिव एप्रोच', ज़ोया हसन , ई. श्रीधरन और आर. सुदर्शन (सम्पा.), *इंडियाज लिविंग कांस्टीट्यूशन : आइडियाज़, प्रेक्टिस, कंट्रोवर्सीज़,* परमानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली .

डेविड बी ट्रूमैन (1969), 'फ़ेडरलिज़्म ऐंड द पार्टी सिस्टम', डेनियल जे. इलाजर (सम्पा.), द *पॉलिटिक्स ऑफ़ अमेरिकन फ़ेडरलिज़्म,* : डीसी हीथ ऐंड कम्पनी, लेक्सिंगटन , मैसेचुसेट्स.

प्रदीब के. छिब्बर और जॉन के. पेट्रोसिक (1989), 'सोशल क्लीवेजेज़, इलेक्शंस ऐंड द इण्डियन पार्टी सिस्टम' *ब्रिटिश जर्नल ऑफ़ पॉलिटिकल साइंस,* खण्ड 19, अंक 2.

पीटर सी. आर्डीशुक (1996). 'रशियन पार्टी सिस्टम : इज़ रशियन फ़ेडरलिज़्म वायेबल ?' *पोस्ट सोवियत अफ़ेयर्स,* खण्ड 12, अंक 3.

बलवीर अरोड़ा (2000), 'नेगोशिएटिंग डिफ़रेंसेज़ : फ़ेडरल कोएलिएशंस ऐंड नैशनल कोहेज़ंस, फ्रैंसाइन फ्रैंकेल, ज़ोया हसन , राजीव भार्गव और बलवीर अरोड़ा (सम्पा.), *ट्रांसफ़ार्मिंग इण्डिया : सोशल ऐंड पॉलिटिकल डाइनामिक्स ऑफ़ डेमॉक्रैसी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

बलवीर अरोड़ा (2003), 'फ़ेडरलाइज़ेशन ऑफ़ इण्डियाज़ पार्टी सिस्टम', अजय कुमार मेहरा, डीडी खन्ना और गर्ट डब्ल्यू कुएक (सम्पा.), *पॉलिटिकल पार्टीज़ ऐंड पार्टी सिस्टम,* सेज, नयी दिल्ली.

बलवीर अरोड़ा और के.के. कैलाश (2013), 'न्यू पार्टी सिस्टम : फ़ेडरलाइज़्ड ऐंड बाइनोडल', अजय मेहरा (सम्पा.) *पार्टी सिस्टम इन इण्डिया : इमर्जिंग ट्रैजेक्टरीज़,* लैंसर पब्लिसर्स, नयी दिल्ली.

योगेंद्र यादव (1996), 'रि कंफ़िगरेशंस इन इण्डियन पॉलिटिक्स : स्टेट असेम्बली इलेक्शंस, 1993-95, *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 31, अंक 2/3 .

योगेद्र यादव (2000), 'अंडरस्टैंडिंग द डेमॉक्रैटिक अपसर्ज : ट्रेंड्स ऑफ़ बहुजन पार्टिसिपेशन इन इलक्ट्रोरल पॉलिटिक्स

योगेंद्र यादव और सुहास पलशीकर (2003), 'फ्रॉम हेजमानी टू कनवर्जेंस : पार्टी सिस्टम ऐंड इलेक्टोरल पॉलिटिक्स

योगेंद्र यादव और सुहास पलशीकर (2008), 'टेन थीसिस आन स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया', *सेमिनार,* 591, नवंबर .

विलियम राइकर (1962/1970), द *थियरी ऑफ़ पॉलिटिकल कोएलिशंस,* ऑक्सफ़र्ड ऐंड आइबीएच पब्लिशिंग हाउस कम्पनी, कलकत्ता.

साबा निकोलेनियाई (2010), *माइनारिटी गवर्नमेंट्स इन इण्डिया : द पज़ल ऑफ़ इल्यूज़िव मेजारिटीज,* रॉटलेज, लंदन.

सुहास पलशीकर (2013), 'पोल्स अपार्ट', द *इण्डियन एक्सप्रेस,* 4 नवंबर.